

समयसारकी रचनामें आचार्य कुन्दकुन्दकी दृष्टि

समयसारका आलोडन करनेसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि उसकी रचना आचार्य कुन्दकुन्दने इस दृष्टिसे की है कि सम्पूर्ण मानवसमष्टि इसे पढ़कर इसके अभिप्रायको समझें और उस अभिप्रायके अनुसार अपनी जीवनप्रवृत्तियोंको नैतिक रूप देनेका दृढ़ संकल्प करें, जिससे वे जीवनके अन्ततक सुखपूर्वक जिन्दा रह सकें ।

इस प्रकार अपनी जीवनप्रवृत्तियोंको नैतिक रूप देनेवाली मानवसमष्टिमेंसे जो मानव जितने परिणाम में अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक स्वावलम्बनताका अपनेमें विकास कर ले, उतना वह आध्यात्मिक (आत्म-स्वातन्त्र्यके) मार्गका पथिक बन सकता है ।

जीवके भेद

जैनशासनमें जीवोंके संसारी और मुक्त दो भेद बतलाये गये हैं । (देखो, त. सू., अ. २ का 'संसारिणो मुक्ताश्च' सू० १०) ।

इस सूत्रसे यह भी ज्ञात होता है कि संसारकी समाप्तिका नाम ही मुक्ति है और जो जीव संसारसे मुक्त हो जाते हैं, वे ही सिद्ध कहलाते हैं । जैनशासनके अनुसार कोई भी जीव अनादिसिद्ध नहीं है । जैसा कि इतर दार्शनिकोंने माना है ।

संसारी जीवोंके भेद

जैनशासनके अनुसार संसारी जीव भी भव्य और अभव्य दो प्रकारके हैं । उनमेंसे भव्य जीव वे हैं जिनमें संसारसे मुक्त होनेकी स्वभावसिद्ध योग्यता विद्यमान हो और अभव्य जीव वे हैं, जिनमें उस स्वभाव-सिद्ध योग्यताका सर्वथा अभाव हो ।

भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकारके जीव अनादिकालसे पौद्गलिक कर्मोंसे बद्ध होनेके कारण उन कर्मोंके प्रभावसे अनादिकालसे ही यथायोग्य नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार गतियोंमें परिभ्रमण करते आये हैं और अपनी स्वावलम्बनशक्तिको भूलकर यथासंभव मानसिक, वाचनिक और कायिक परावलम्बनताकी स्थितिमें रहते आये हैं, तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके प्रभावमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें रहते हुए सतत मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक अनैतिक (मिथ्या) आचरण करते आये हैं । ऐसे जीवोंको समयसार गाथा १२ से लेकर गाथा २३ तक अपनेसे भिन्न पदार्थोंमें अहंबुद्धि और ममबुद्धि होनेके कारण अप्रतिबुद्ध प्रतिपादित किया गया है । तथा ये जीव अप्रतिबुद्ध क्यों हैं, इस बातको समयसार गाथा २४ और २५ में आगम और तर्कके आधारपर सिद्ध किया गया है ।

यद्यपि नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन सभी गतियोंके जीव इस प्रकारसे अप्रतिबुद्ध हो रहे हैं, और सभी गतियोंके बहुतेरे जीव इस अप्रतिबुद्धताको समाप्त कर प्रतिबुद्ध भी हो सकते हैं, परन्तु जीवोंको मुक्तिकी प्राप्ति मनुष्यगतिसे ही हो सकती है । इसलिए समयसारमें जो विवेचन किया गया है वह मानव-समष्टिको लक्ष्यमें रखकर ही किया गया है ।

जैनशासनके अनुसार भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकारके जीव मुक्तिके मार्गमें प्रवेश कर सकते हैं, क्योंकि न तो भव्य जीव अपनी भव्यताकी पहिचान कर सकते हैं और न अभव्य जीव अपनी अभव्यताकी पहिचान कर सकते हैं । इसलिए भव्य जीवोंके समान अभव्य जीव भी अपनेको भव्य समझकर मुक्तिके मार्गमें

प्रवृत्त होते हैं। समयसार गाथा १७५ में बतलाया गया है कि अभव्य जीव भी भव्य जीवके समान मोक्षके मार्गभूत धर्म (व्यवहारधर्म) में आस्था रखता है, उसको समझता है, उसमें रुचि रखता है और उसमें प्रवृत्त भी होता है। इतनी बात अवश्य है कि उसका वह धर्माचरण मुक्तिका कारण न होकर यथायोग्य सांसारिक सुखकी वृद्धिका ही कारण होता है।

तात्पर्य यह है कि भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकारके जीव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके प्रभावमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें रहते हुए भी यथायोग्य चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, पंचम गुणस्थानवर्ती और षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवोंके समान धर्माचरण करते हैं। और इस प्रकार धर्माचरण करते हुए अभव्य जीव भी भव्य जीवोंके समान अपनेमें क्षयोपशम, विशुद्धि देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास कर लेते हैं जिनके प्रभावसे वे नवम ग्रैवेयिक तक स्वर्गमें भी उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु वे भव्य जीवोंके समान आत्मविशुद्धिको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्यरूप नहीं बना सकते हैं, क्योंकि जैनशासनमें बतलाया गया है कि उसी जीवकी आत्मविशुद्धि सम्यग्दर्शनरूप होती है जिसने दर्शनमोहनीयकर्मकी तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम किया हो। इसी प्रकार आत्माकी विशुद्धि देशव्रतरूप उसी जीवकी होती है जिसने उक्त दर्शनमोहनीयकर्मकी तीन और अनन्तानुबन्धी कषायकी चार इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके साथ अप्रत्याख्यानावरण कषायकी चार प्रकृतियोंका क्षयोपशम किया हो, तथा आत्माकी विशुद्धि सर्वव्रतरूप उसी जीवकी होती है, जिसने उक्त दर्शनमोहनीय कर्मकी तीन, अनन्तानुबन्धी कषायकी चार इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम और अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशमके साथ प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम किया हो।

इसका भाव यह है कि मिथ्यात्वगुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी उक्त प्रकृतियोंका यथासम्भव उपशम, क्षय व क्षयोपशम उसी जीवमें होता है, जो भव्य हो। तथा, उस जीवमें वह उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम तभी होता है, जब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि हो जाता है। वह सातिशय मिथ्यादृष्टि तभी कहा जाता है जब वह करणलब्धिको प्राप्त करता है अर्थात् क्रमशः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामोंको प्राप्त होकर मोहनीयकर्मकी उक्त प्रकृतियोंका यथायोग्य उपशम, क्षय और क्षयोपशम करनेकी क्षमता प्राप्त कर लेता है। उसे करणलब्धिकी प्राप्ति तभी होती है जब वह समयसारमें प्रातिपादित भेदविज्ञानको प्राप्त कर लेता है। वह उक्त भेदविज्ञानको तब प्राप्त होता है जब वह क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियोंको प्राप्त कर लेता है। वह इन चार लब्धियोंको तब प्राप्त करता है, जब वह नैतिक आचरणके रूपमें अथवा नैतिक आचरणके साथ देशव्रतके रूपमें अथवा नैतिक आचरणके साथ सर्वव्रतके रूपमें मन, वचन और कायके समन्वयपूर्वक आगममें वर्णित व्यवहारधर्मको अंगीकार करता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अभव्य जीव भी उक्त प्रकारके व्यवहारधर्मको अंगीकार करके क्षयोपशम, विशुद्धि, वेदना और प्रायोग्य इन लब्धियोंको प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह अपनी अभव्यताके कारण उक्त भेदविज्ञानको प्राप्त नहीं होता है। समयसार गाथा १७५ का यही अभिप्राय है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि उन भव्य और अभव्य जीवोंको उक्त चार लब्धियोंकी प्राप्ति नहीं होती है जो उक्त प्रकारके व्यवहारधर्मोंको अंगीकार तो करते हैं, परन्तु मन, वचन और कायके समन्वयपूर्वक नहीं अंगीकार करते हैं।

इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती भव्य जीवको ही उपर्युक्त क्रमसे भेद-विज्ञानकी प्राप्ति होती है, अभव्य जीवोंका नहीं।

समयसारकी बेजोड़ व्याख्या करनेवाले आचार्य अमृतचन्द्रके कलश पद्य १२८, १२९, १३०, १३१ और १३२ से यही निर्णीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारकी रचनामें मुमुक्षु जीवके लिए मुक्तिकी प्राप्तिमें भेदविज्ञानको प्रमुख स्थान दिया है। यहाँ उन कलशपद्योंको उद्धृत किया जाता है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या,
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वापलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्द्रव्यदूरे स्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥१२८॥

अर्थ—जो जीव निजमहिमामें रत है अर्थात् उस महिमाके जानकार है उन जीवोंको भेदविज्ञानके आधारपर नियमसे शुद्ध अर्थात् स्वतन्त्र स्वरूपका उपलम्भ (ज्ञान) होता है। ऐसे जीवोंके अन्य द्रव्योंसे सर्वथा दूर हो जानेपर अर्थात् पर-पदार्थोंमें अहम्बुद्धि और ममबुद्धिकी समाप्ति हो जानेपर कर्मोंका स्थायी क्षय हो जाता है।

संपद्यते संवर एव साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
म भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यं॥१२९॥

अर्थ—शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर साक्षात् संवरका संपादन होता है। वह शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान भेदविज्ञानके आधारपर होता है, इसलिए जीवोंको भेदविज्ञानकी प्राप्तिका अभ्यास करना चाहिये।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया। तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥१३०॥

अर्थ—उस भेद विज्ञानका आच्छिन्न धारासे तबतक अभ्यास करना चाहिये, जबतक वह जीवपरसे च्युत होकर अर्थात् परमें अहंकार और ममकार समाप्त करके ज्ञानमें प्रतिष्ठित होता है।

भेदविज्ञानत सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥१३१॥

अर्थ—जो कोई जीव सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञानसे ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई जीव बद्ध हैं वे भेदविज्ञानके अभावसे ही बद्ध हैं।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वापलम्भात्,

रागश्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।

विभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं,

ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत्॥१३२॥

अर्थ—जीवको भेदविज्ञानकी प्राप्ति होनेपर शुद्धतत्त्वका उपलम्भ अर्थात् ज्ञान होता है और इस प्रकार रागसमूहका विनाश हो जानेसे कर्मोंका संवर होनेपर तोषको प्राप्त उत्कृष्ट अमलप्रकाशवाला निर्दोष, अद्वितीय ज्ञान नियमसे उदित होकर शाश्वत प्रकाशमान होता है।

समयसारकी रचनामें जो क्रम पाया जाता है उससे भी वही भाव प्रकट होता है। जो निम्न-प्रकार है—

प्रथम गाथामें आचार्य कुन्दकुन्दने जो सिद्धोंको नमस्कार किया है इससे मुमुक्षु जीवके अपने लक्ष्यका निर्धारण होता है। दूसरी गाथामें यह बतलाया है कि जो जीव अभेददृष्टिसे अपने अखण्ड स्वभावभूत ज्ञानमें और भेददृष्टिसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यमें सतत स्थिर रहें, उन्हें स्वसमय कहा जाता है। तथा जो जीव पुद्गलकर्मप्रदेशोंमें स्थित अर्थात् पुद्गलकर्मोंसे बद्ध होनेके कारण परपदार्थोंमें अहंबुद्धि और ममबुद्धि

करते हैं, वे परसमय कहलाते हैं। तीसरी गाथामें यह शंका उठाई गई है कि लोकमें जितने पदार्थ हैं वे सब अपने अखण्ड एक स्वभावमें रहकर ही सुन्दरताको प्राप्त हो रहे हैं, इसलिए जीवके विषयमें बन्धकी कथा विसंवादपूर्ण हो जाती है। चतुर्थ गाथामें इस शंकाका इसप्रकार समाधान किया गया है कि सम्पूर्ण जीवोंको काम, भोग और बन्धकी कथा सुननेमें आई है, देखनेमें आई है और अनुभूत भी है कि परन्तु उसके अखण्ड एक स्वरूपका ज्ञान होना उसे सुलभ नहीं है। इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्दने पाँचवीं गाथामें आत्माके उस अखण्ड एक स्वरूपको समयसारमें स्पष्ट करनेकी प्रतिज्ञा की है। तथा छठी गाथामें आत्माके उस अखण्ड एक स्वरूपको स्पष्ट कर दिया गया है। इसके पश्चात् गाथा १३में आचार्यश्रीने आध्यात्मिक मार्गमें उपयोगी जीव, अजीव, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षको जैसे हैं उसी रूपमें जिस जीवने जाना है, उसे सम्यग्दृष्टि बतलाया है। इससे निर्णीत होता है कि उक्त पदार्थोंको उनके पृथक्-पृथक् स्वरूपके आधारपर जान लेना ही भेदविज्ञान है। इसके आगे आचार्य कुन्दकुन्दने इसी जीवाधिकारमें जीवके स्वरूपका, अजीवाधिकारमें अजीवके स्वरूपका, कर्तृकर्मधिकारमें जीव और अजीवके विषयमें कर्ता और कर्मको व्यवस्थाके निषेधका, पुण्यपापाधिकारमें पुण्य और पापका, आस्रवाधिकारमें आस्रवका, संवराधिकारमें संवरका, निर्जरा-धिकारमें निर्जराका, बन्धाधिकारमें बन्धका और मोक्षाधिकारमें मोक्षका जो पृथक् पृथक् स्वरूपविवेचन किया है, वह भेदविज्ञानका पोषण करनेके लिए किया है। और अन्तमें सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारमें आत्माके स्वतंत्र स्वरूपका विवेचन किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारकी रचनामें मुमुक्षु जीवोंको प्रथमतः भेदविज्ञानी बननेका ही उपदेश मुख्यतासे दिया है।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि भव्य और अभव्यके भेदसे मिथ्यादृष्टि संसारीजीवोंके जो दो प्रकार आगममें निश्चित किये गये हैं वे दोनों ही एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय और संज्ञीपञ्चेन्द्रियके भेदसे छह प्रकारके हैं। इनमेंसे एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय तकके जीवोंमें केवल कर्मफलचेतना पायी जाती है; अर्थात् ये सब जीव कर्मफलका मात्र सुख-दुःख रूप अनुभव ही कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भव्य और अभव्य जीव हैं वे सतत अपने अभिलषितकी सम्पन्नताके लिए संकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते हैं और उनका वह पुरुषार्थ असीमित भोग और संग्रहका होता है। तथा, उनकी प्राप्तिके लिए वे हिंसा, असत्य भाषण और चोरीका भी पुरुषार्थ करते हैं और ऐसे पुरुषार्थमें उन्हें हमेशा हर्ष होता है, विषाद कभी नहीं होता। यही कारण है कि उनका ऐसा पुरुषार्थ अनैतिक आचरणके रूप में संकल्पी पाप माना गया है। इस संकल्पी पापका सद्भाव उन जीवोंमें जबतक रहता है, तबतक वे मिथ्या-दृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारिणी होते हैं। तथा इनमेंसे जो जीव उक्त संकल्पी पापोंका सर्वथा त्याग कर अशक्ति या आवश्यकताके आधारपर जिन पापोंमें प्रवृत्त होते हैं उनके वे पाप अशक्तिवश और आवश्यकता-वश होनेके कारण आरम्भी पाप कहलाते हैं। इस प्रकार आरम्भी पापोंमें प्रवृत्त वे भव्य और अभव्य मिथ्या-दृष्टि जीव अविरत कहे जाते हैं। और जो भव्य और अभव्य उस अविरतिका एक देश त्याग कर देते हैं वे देशविरत मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं; तथा जो भव्य और अभव्य उक्त आरम्भी पापोंका यथायोग्य सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर देते हैं वे सर्वविरत मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। ये भव्य और अभव्य दोनों जीव ही उक्त प्रकार अविरत, देशविरत और सर्वविरत होकर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धियोंको भी प्राप्त कर लेते हैं। इतनी बात अवश्य है कि अभव्य जीव उक्त लब्धियोंको प्राप्त करके भी अपनी अभव्यताके कारण भेदविज्ञानी नहीं बन सकते हैं। भव्य जीव ही अपनी भव्यताके आधारपर भेदविज्ञानी बन सकते हैं। ●